



श्री धर्मपालजी ( जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुडकी एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'वापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रूरल डेवलपमेण्ट'(अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-

१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन

इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी

डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया

द मद्रास पंचायत सिस्टम

द व्यूटीफुल ट्री

अंग्रेजों से पहले का भारत

भारतीय चित्त, मानस और काल

भारत का स्वधर्म

स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :

भारत पीठम्

# भारत का स्वधर्म

धर्मपाल

# भारत का स्वधर्म

धर्मपाल

प्रकाशक  
भारत पीठम

## मानव जाति का इतिहास

भारत का स्वधर्म

सर्वाधिकार लेखक के पास

इससे पूर्व यह पुस्तक वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर (HB संस्करण, 1994 में) से तथा नई आजादी प्रकाशन, इलाहाबाद (6000 प्रतियाँ, 1997 - 1999 के बीच) से प्रकाशित हुई हैं।

पुनर्प्रकाशन : मई 2000 (2000 प्रतियाँ)  
पुनर्प्रकाशन : मार्च 2002 (2000 प्रतियाँ)  
पुनर्प्रकाशन : जुलाई 2002 (5000 प्रतियाँ)

प्रकाशक : भारत पीठम

चांडक निवास, शास्त्री चौक

बैचलर रोड, वर्धा-442009

फोन - (079952) 82259, 84849

मुद्रण : कॉन्फीसेक प्रिण्टर्स, अहमदाबाद

मूल्य : 20 रुपये

मानवी कि निति निति कि मानवीयता

“मानव जाति की विविध सभ्यताएँ रही हैं। इनके इतिहास और स्वरूप पर अनुसंधान का कार्य लगातार चलता रहता है। मुख्यतः तो हर समाज अपनी सभ्यता की स्मृति अपने ढंग से जीवंत रखता है और यह स्मृति ही संस्कार, संकल्प, प्रेम तथा श्रेय के रूपों में आकांक्षा और सर्जना के विविध पुरुषार्थों का आधार बनती है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार और व्यवहार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृतिरहित कथन या चिन्तन, अधिप्रमाण्यरहित कथन या चिन्तन हो जाता है। उसका वास्तविक बल रह नहीं जाता।”

“भारत को अब अपनी पुनर्योजना, सांस्कृतिक राजनीति को आगे रखकर, करनी होगी। इस पुनर्योजना में अर्थशास्त्र नियामक सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्यता में विविध अवधारणाओं की एक क्रम-व्यवस्था रहती है। किन्तु अर्थशास्त्र किसी भी सभ्यता में प्रमुख नहीं होता। अपनी सभ्यता से कटे हुए और यूरोपीय सभ्यता के मर्म से अनजान तथा उसके प्रति दास्य-भाव से भरे हुए भारतीय शासक वर्ग को ही अर्थशास्त्र प्रमुख दीखता है। यूरोपीय शासक वर्ग तो हमें अपनी सभ्यता का मानवीय संसाधन मानकर हमारे लिए अर्थशास्त्र को प्रमुख मानता है। अब हमें अवधारणाओं के प्रधान-गौण-क्रम का यह उलट गया बोध फिर से व्यवस्थित करना होगा, उसे सही क्रम में समझना और रखना होगा।”

## स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता

सादर स्मरणीय डॉ. छगन मोहता की स्मृति में हम सब यहाँ उस चिन्तन-परम्परा एवं जीवन-परम्परा के एक अंश के रूप में एकत्र हैं, जिसकी एक सबल अभिव्यक्ति उनमें हुई थी।

इस व्याख्यान माला के प्रथम वक्ता के रूप में उपस्थित होकर मैं अपने भीतर संकोच एवं गौरव, दोनों प्रकार के भाव उमड़ते अनुभव कर रहा हूँ। आप सब प्रबुद्ध लोगों के साथ, इन दो दिनों में मुझे अपने विचारों, अनुभवों, संशयों, जिज्ञासाओं और निष्कर्षों का साझा करने का सौभाग्य मिलेगा। भारतीय समाज, भारतीय मानस, भारतीय समाज व्यवस्था को तथा यूरोपीय समाज और वहाँ की व्यवस्था और मानस को, पिछले दो-दोई सौ वर्षों में हुई इन दोनों टकराहटों को और उससे भारत पर पड़े विभिन्न प्रभावों को समझने का कुछ प्रयास मैं करता रहा हूँ। समय-मर्यादा के अन्तर्गत इन दो दिनों में मैं ऐतिहासिक तथ्य, उनकी वैचारिक पृष्ठभूमियों और उनसे निगमित अपने निष्कर्ष तथा जिज्ञासाएँ आपके सामने रखूँगा तथा उनको लेकर आपसे संवाद करूँगा। अपने पहले व्याख्यान में मैं स्वाधीनता से वंचित कर दिये जाने के अनुभव से भारतीयों में चले वैचारिक मंथन, प्रतिनिधि-रूपों पर और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों पर कुछ कहूँगा। इन विचारों और निर्णयों की आज के हमारे परिवेश, हमारे देश, हमारे समाज और राज्य की दशा तथा रचना में निर्णायक भूमिका है। हम आज भी उन्हीं के मध्य जी रहे दिखते हैं। इसी के साथ मैं उस तैयारी के बारे में कुछ संकेत दूँगा, जो अपने विश्व-विजय के अभियान के लिए ब्रिटेन ने किये तथा जो यूरोपीय मानस की पृष्ठभूमि रही। उस तैयारी की अवधि में ब्रिटेन का समाज किन आधारों पर संगठित था, शिक्षा, ज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि में उसकी क्या स्थिति थी, इस पर भी कुछ प्रासंगिक चर्चा हो जायेगी।

अपने दूसरे व्याख्यान में मैं मुख्यतः इस पर विचार व्यक्त करूँगा कि यूरोपीयों से ऐसी टकराहट के पूर्व तथा अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हमारी समाज-संरचना, शिक्षा-व्यवस्था, विद्या-संस्थाएँ, समाज-व्यवस्थाएँ, राजतंत्र, धर्म-तंत्र एवं हमारे लोक मानस का तंत्र कैसा था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी, श्रम-मूल्य-भुगतान तथा प्रखर मानवीय सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाली उस काल से सम्बन्धित सामग्री में से भी कुछ मैं आपके सामने इसी दूसरे

व्याख्यान में रखूँगा।

लक्ष्य क्या हैं और कौन-से हो सकते हैं और उनमें कुटिल पथ कौन-सा है और ऋजु पथ कौन-सा है, यह विचार करते रहने की अपनी परम्परा रही है। स्वयं वाणी को भी द्वार एवं पथ कहा गया है, अतः विचार एवं वाणी के स्तर पर हम पथ का अन्वेषण करें और उसी प्रक्रिया में कर्म-पथ की भी खोज होती चले, यही हमारे यहाँ प्रत्येक विद्या-प्रक्रिया का लक्ष्य रहा है। ऋग्वेद में 'ऋतस्य पन्था' यानी ऋत और सत्य के पथ की तथा 'अनृत-पथ' की बात है। उपनिषदों में भी बार-बार 'पथ' पद का प्रयोग है। आत्मज्ञान के रास्ते पर बढ़ रहे साधक की तुलना गौंधार-पथ पर पूछ-पूछ कर आगे बढ़ रहे पथ गवेषी से की गई है। ईशोपनिषद की मुख्य प्रार्थना ही है कि हे चेतना-अग्नि! हमें सुपथ में प्रवृत्त रखो, जटिल पथों से दूर रखो। पथों की अनृतता की बात हमारे यहाँ कही गई है। अतः देश-काल और पात्र का विचार कर, अपने लक्ष्य या श्रेयस् का ध्यान रखते हुए ऋजु-पथ, ऋत-पथ की खोज हमारे यहाँ प्रत्येक विमर्श का और सह-चिंतन का उद्दिष्ट रहा है। हमारे लक्ष्य क्या हैं और उनकी प्राप्ति के सुपथ, ऋजु-पथ या श्रेयस्कर पथ क्या हैं, यह हमारे चिंतन का अभीष्ट है।

तीसरे व्याख्यान में अपने इस विमर्श का समापन भी इसी प्रकार रहेगा। इतिहास और वर्तमान का विचार और स्मरण करते हुए हमें भविष्य की संभाव्यताओं के बारे में सोचना होगा। भावी समाधानों की विवेचना करनी होगी। समाधानों और संभाव्यताओं का यह विचार, पथ के विचार की ओर ले जायेगा। हम किस पथ का वरण करें और क्यों? हमारे सामने कौन-कौन से पथ हैं? उनमें से सुपथ या ऋजु-पथ कौन-सा है, कुटिल-जटिल पथ कौन-से हैं। किस पथ पर प्रस्थान करने पर क्या गति होगी या हो सकती है, इन सब पर हम संक्षेप में अंतिम क्रम में विचार करेंगे। अपने व्यष्टि-चित्त और समष्टि-चित्त, संस्कार और सामर्थ्य, परम्पराएँ और कुंठाएँ- इन पर विचार के साथ प्रासंगिक यूरोपीय सन्दर्भ सामने आयेंगे। आज की हीनता को गहराई से समझने पर उसे दूर करने के क्या उपाय या मार्ग हो सकते हैं, इसका विचार भी आयेगा।

मेरी बातचीत में कोई सुस्पष्ट एवं निर्णीत पथ-निर्देश होना सम्भव नहीं है। तथ्य, उनसे निगमित निष्कर्ष और जिज्ञासाएँ, बहुत-से प्रश्न, बहुत-से वैचारिक द्वन्द्व, हम सबसे धीरता एवं सहचिंतन की अपेक्षा करती बौद्धिक व्यग्रता - यही सब इनमें से शायद निकलें। अपने वृहत् समाज से और अपनी समष्टि चेतना से, वृहत् ऋत से, विराट भाव से अपने सम्बन्ध की सम्यक् पहचान की व्यग्रता ही तो वास्तविक बौद्धिक व्यग्रता है। वह व्यग्रता हममें जाग्रत रहे तो

प्रशस्त पत्र, सुपत्र या 'कृतस्य पन्थाः' भी हमारी प्रज्ञा में कौंधते रहेंगे, ऐसा आश्वासन हमारे पूर्वजों ने, हमारे अवतारों ने, हमारे देवता-गणों ने, हमारी दैवी शक्तियों ने दे रखा है। अतः उस श्रद्धा भाव के साथ ही यह विमर्श, यह संवाद आरम्भ करना चाहिए।

स्वाधीनता संग्राम के दिनों में गाँधीजी के नेतृत्व में एक सैनिक की भूमिका निभाते समय भारत की इस स्वाधीनता के छिन जाने के कारणों पर विचार भी हमारी उसी भूमिका का स्वाभाविक अंग था। महात्मा गाँधी ने सन् १९०६ ईस्वी में 'हिन्द स्वराज' लिखा था, जिसमें भारत और योरप की टकराहट को दो सभ्यताओं की टकराहट के रूप में देखा-बताया गया था। १९२० और १९३० ईस्वी वाले दशकों में गाँधीजी ने भारतीय समाज की दशा के बारे में और योरप, विशेषतः इंग्लैंड से विभिन्न क्षेत्रों में उसकी तुलना के बारे में प्रभूत सामग्री लिखी ही थी, अन्य लोगों ने भी ऐसी सामग्री बड़ी मात्रा में प्रकाशित की थी। उदाहरणार्थ 'यंग इंडिया' में ई. १९२० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में ही गाँधीजी ने इन विषयों पर बहुत से लेख लिखे व प्रकाशित किये थे— १८ वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती ईस्वी के प्रारम्भ काल में स्वदेशी भारतीय शिक्षा की दशा, अंग्रेजों के आने के पूर्व की भारतीय सामाजिक जीवन दशाएँ और उनके प्रभुत्व-काल में बढ़ी भारतीय समाज की दरिद्रता और दुर्दशा, १८०० ईस्वी तक दक्षिण भारत में तथाकथित अन्त्यज लोगों (जिसमें दो चार जातियाँ ही आती थीं) की अथवा महाराष्ट्र में महारों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति जो ब्रिटिश आधिपत्य होने पर बिगड़ती चली गयी तथा अन्य ऐसे ही विषय। इन लेखकों में गाँधीजी के अनुयायी या प्रशंसक ही सम्मिलित नहीं थे। सर शंकरन नायर ब्रिटिश वायसराय की काँसिल के एक सदस्य थे। वे तथा उन जैसे अन्य लोग भी इसी प्रकार से लिखने लगे थे। स्पष्ट है कि उस समय के पढ़े-लिखे लोगों के विविध समूह इन तथ्यों को जानते थे। सर शंकरन नायर ने ईस्वी १९१६ में लिखा था कि अन्त्यज आदि की सामाजिक आर्थिक दशा में मुख्य गिरावट विगत डेढ़-सौ वर्षों में ही हुई है तथा भारतीय समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी उल्लेखनीय हास इसी अवधि में हुआ। मेरा अनुमान है कि २० वीं शती ईस्वी के आरम्भ काल के अनेक समाचार पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, शोधपूर्ण गवेषणाओं, विशिष्ट विद्वानों की कृतियों, सृजनात्मक लेखकों-कवियों की रचनाओं आदि में इसी तरह की बहुत-सी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी।

सम्भवतः यह हुआ कि ये सारी जानकारियाँ अब से ५०-६० साल पहले सामने तो आईं, लेकिन इस समय वे भारतीय समाज का एक समग्र चित्र

अंकित करने की दृष्टि से नहीं रखी गई। शायद जिज्ञासा— वर्धक भाव से ही या ऐसे ढंग से ही ये बातें अधिकांशतः रखी गईं, जिनमें आज अति भावुकता दिखती हो।

परन्तु गाँधीजी ने १९०६ ईस्वी में ही 'हिन्द स्वराज' लिखा और हम सब भलीभाँति जानते हैं कि उसमें तथा अपनी अधिकांश कृतियों में गाँधीजी ने सदा संतुलित रूप में भारतीय समाज एवं राजनीति-तंत्र की एक ऐसी समग्र छवि, एक ऐसा रूप-संकेत प्रस्तुत करने का उद्यम किया, जो कि उन्होंने इस समाज के सुदीर्घ अतीत से गतिशील जीवन के बारे में समझा था। हम यहाँ स्मरण करें कि 'हिन्द स्वराज' में असहयोग पर लिखते हुए गाँधीजी ने संकेत किया था कि यह परम्परा भारत की स्वाभाविक परम्परा है और यह भारत में सदा से विद्यमान रही है। इसके दृष्टान्त भी उन्होंने दिये। मेरा मानना है कि भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज की क्रियाशीलताओं के स्वरूपों के बारे में अपने ऐसे बोध के कारण ही गाँधीजी सहजता से भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज से संवाद कर सके, सहज वार्तालाप का सम्बन्ध रख सके तथा इसके कारण ही भारतीय जन गाँधीजी के सुझाए रास्ते को अपनाते रहे। १९४४ ईस्वी में गाँधीजी ने कहा भी था कि जब मैं भारत लौटा तो मैंने उन्हीं भावों और विचारों को अभिव्यक्ति दी, जो कि भारतीय अपने मन में स्वयं पहले से जानते थे और अनुभव करते थे। निश्चित ही, गाँधीजी के नेतृत्व में भारत जो कुछ कर पाया और प्राप्त कर सका, उसके मूल में गाँधीजी की भारतीय समाज से यह सहज एकात्मकता ही नहीं थी, उनकी संगठन-क्षमता तथा आध्यात्मिक व बौद्धिक सामर्थ्य भी इस सफलता व उपलब्धि का आधार रही।

वृहत् भारतीय समाज में अपनी समाज रचना, समाज व्यवस्था और राज व्यवस्था के बारे में यह बोध-परम्परा होते हुए भी और गाँधीजी द्वारा 'हिन्द स्वराज' में तथा अन्यत्र एवं दूसरे अनेक लोगों द्वारा 'यंग इंडिया' समेत विविध स्थानों में, ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व के भारत के बारे में इतना सब कुछ लिखित साहित्य एवं साक्ष्य विद्यमान होते हुए भी, उन व्यक्तियों, समूहों और अंग्रेजों द्वारा रची गई उन समस्त व्यवस्थाओं में, अधिकांशतः जो आज भी हमारे बीच में है, उस बोध-परम्परा की स्मृति बहुत कम दिखती है। स्वाधीनता-संग्राम के बोध के अंग के रूप में लिखी गई तथा एकत्र और सुरक्षित रखी गई उस ऐतिहासिक तथ्य सामग्री की भी कोई चेतना या स्मृति इन व्यक्तियों के समूहों में कम ही दिखती है, जिनके ऊपर अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद, सत्ता-हस्तांतरण के द्वारा, स्वाधीन भारत के शासन का दायित्व आया। स्थिति

स्पष्ट है कि स्वाधीन होने पर भी, हमारी समस्त शासकीय व्यवस्थायें और उनके साथ समस्त आधुनिक अशासकीय प्रवृत्तियाँ, आज भी बहुत कुछ उसी संरचना पर आधारित हैं, जो संरचना—तंत्र अंग्रेजों ने सन् १७६० से १८३० ईस्वी के मध्य, भारतीय व्यवस्थाओं एवं संरचना—तंत्र को नष्ट करने के हेतु और उसी प्रक्रिया में रचे थे या फिर जो उन्होंने १८५७ ईस्वी के बाद अपने राज्य को भारत में और सुदृढ़ बनाने के लिए रचे थे।

यहाँ यह स्मरण किया जा सकता है कि सन् १६२० ई. तक भारत का राज्यकर्ता वर्ग या अभिजनों का महत्वपूर्ण हिस्सा अपने समाज से बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर असम्बद्ध हो चुका था और परकीयता अपना चुका था। इस वर्ग ने अंग्रेजों के आचार—व्यवहार को और बोली या अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया था तथा ब्रिटिश संकल्पनाओं या अवधारणाओं एवं जीवन—रूपों के अनुरूप अपने निजी एवं सामाजिक जीवन को ढालने के लिए अग्रसर था। स्पष्ट है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व वाले २५ वर्षों का काल—खंड भारत में विविध क्षेत्रों में संग्राम की दृष्टि से बहुत ही कम कहा जायेगा। यह भी सत्य हो सकता है कि जिन प्रमुख अभिजनों ने गाँधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया और उसके द्वारा राज—सत्ता एवं राजनैतिक सत्ता प्राप्त की, वे गाँधीजी की भारतीय समाज की समझ को बहुत गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते थे और वे यह स्वीकार कर पाने में भी असमर्थ थे कि वैसा कोई भारतीय समाज आधुनिक विश्व में व्यवहार्य हो सकता है। इस राज्यकर्ता वर्ग के एक अधिक प्रबुद्ध और गाँधीजी के आत्मीय जनों में गिने जाने वाले सदस्य ने कहा ही था कि 'भला कोई यह कैसे कबूल कर सकता है कि गाँव के लोगों में भी कोई सद्गुण और सामर्थ्य है, वे तो बड़े मूर्ख लोग हैं।'

इसमें तो आज कोई संदेह नहीं है कि यह अभिजात वर्ग भारतीय अतीत को आत्मसात् नहीं कर सका और भारत का भविष्य उसके अनुरूप रचने की नहीं सोच सका। किन्तु यदि उसमें तनिक भी सृजनात्मक सामर्थ्य होता, तो वह उस जानकारी को तो आत्मसात् कर ही सकता था, जो उसने पश्चिम से ग्रहण की थी और फिर इस जानकारी या सोच को वह भारतीय प्रत्ययों एवं अभिव्यक्ति रूपों में ढाल सकता था। लेकिन यह वर्ग अब तक भी तो इसमें विफल ही रहा है। इस विफलता वाले विषय पर मैं अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं समझता। इस विषय पर पिछले दिनों में इसी तरह की बातें विस्तार से कही और लिखी गयी हैं तथा प्रसारित हुई हैं। 'नई शिक्षा नीति' नामक उस सरकारी नीति—विवरण में भी, जिसे देश भर में प्रसारित किया गया है, ऐसी ही

बातें कही गई हैं। लेकिन यह सृजनात्मक अक्षमता हमारे शक्तिशाली वर्ग या अभिजात वर्ग में ब्रिटिश काल में ही आई दिखती हो, ऐसा शायद नहीं है। ऐसा लगता है कि भारत के बहुत से क्षेत्रों में उससे बहुत पहले से यह अक्षमता घर कर चुकी थी। सुप्रसिद्ध आचार्य विद्यारण्य से प्रेरणा पा रहे विजयनगर राज्य में भी और स्वदेशी राज्य हेतु प्रेरणा देने वाले समर्थ गुरु रामदास से प्रेरित मराठों द्वारा १७ वीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में 'हिन्दवी स्वराज' की स्थापना के प्रयास में भी, राज्यकर्ता वर्ग ने बहुत सृजनात्मक सामर्थ्य नहीं दिखाया। अपने समाज और राजनीति—तंत्र (पॉलिटी) को ऐक्यबद्ध करने, साथ—साथ चलने, संवाद और विमर्श करने तथा कार्य करने की एकता उत्पन्न करने में ये दोनों ही राज्य कुछ अधिक सफल नहीं रहे। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि शिवाजी के समय में मराठा क्षेत्र में फारसी का प्रयोग बहुत बढ़ा—चढ़ा था। यहाँ तक कि शिवाजी के प्रारम्भिक काल में राजकाजी मराठी में सत्तर—अस्सी प्रतिशत शब्द फारसी के होते थे। दक्षिण के १७ वीं शती ईस्वी के संस्कृत प्रहसनों में भी इसीलिए मराठों की भाषा पर व्यंग्य किया गया। छत्रपति बनने के बाद अवश्य शिवाजी की राजकाजी मराठी में फारसी शब्दों की भरमार घटी और भाषायी स्वाभिमान की कुछ समझ बढ़ी। उस काल की मराठी में फारसी शब्दों की संख्या २० से ३० प्रतिशत तक मानी जाती है।

सम्भवतः ऐसा ही होता हो कि प्रायः सभी सभ्यताओं में ऐसे अन्तराल आते हों, जब वृहत् समाज और राज्य के साथ के उसके सम्बन्ध छिन्न—भिन्न हो जाते हों अथवा निष्प्रभावी या व्यर्थप्राय हो जाते हों—या प्रसुप्ति की दशा में जा पड़ते हों। हो सकता है कि पिछली कई शताब्दियों से हम इसी दशा, ऐसे ही अन्तराल में जी रहे हों और शीघ्र ही वह समय आने वाला हो, जब भारत का राज्यतंत्र और राजनीति तंत्र (पॉलिटी) हमारे समाज की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं को तो प्रतिबिम्बित करने ही लगे, साथ ही समाज के अपने व्यवहार—पथों, व्यवहार—विधियों एवं अभिव्यक्ति—विधियों को भी प्रतिबिम्बित करे, उन्हें सम्यक् प्रतिष्ठा दे।

यह भी संभव है कि यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी हो, जो निकट भविष्य में ही हमारे समाज और 'पॉलिटी' (राजनीति—तंत्र) के बीच के इस विखंडन को नगण्य सिद्ध कर दे और मेरी अधीरता शायद असम्यक् हो। जब हमने स्वाधीनता फिर से पा ली थी, उसी समय गाँधीजी ने किसी को लिखा था कि तत्काल बड़े परिणामों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए और १५० वर्षों की दासता से जर्जर भारत को पुनः स्वस्थ होने में कम से कम उससे आधे वर्ष तो लगेंगे ही।

तब भी, मेरी व्यग्रता का अंत नहीं दिखता। मुझे कुछ ऐसी अनुभूति होती है कि हमारा समाज और हमारा राजनीति—तंत्र, दोनों दो विलग—विलग विश्वों में परिभ्रमण करने लगे हैं, तो इसके कहीं गहरे और दार्शनिक हेतु हैं। कुछ ऐसा दिखता है कि समष्टिगत भारतीय मानस और उसके अंगभूत भारतीय व्यक्ति के निजी मानस की स्वाभाविक संरचना, संस्कार और बोध—प्रवृत्ति ही ऐसी है कि भारतीय जन स्वभावतः एक ऐसे विश्व में रहने को तैयार नहीं हो पाते, जिसमें विभिन्न मानव समूहों या विविध क्षेत्रों के लोगों के मध्य परस्पर वैर—भाव एवं युद्ध—स्थिति एक स्थायी लक्षण हो। इस विषय पर आधिकारिक रूप से निश्चित विचार व्यक्त करने की प्रात्रता मैं स्वयं में नहीं पाता। किन्तु यदि मेरी इस जिज्ञासा में और व्यग्रता में कुछ तत्व दिखें, तो हमारे विद्वज्जनों एवं प्रतिभाशाली नर—नारियों को इस ओर विचार करना चाहिए। हो सकता है कि ऐसी प्रक्रिया चल रही हो।

यदि भारतीय बुद्धि और मन की संरचना ऐसी है, तो स्पष्टतः इसके परिणाम दूरगामी और बहुअर्थी निकलते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय मानस भी यदा—कदा लड़ाई—झगड़ों तथा अन्य उपद्रवों—अनिष्टों को जीवन का स्वाभाविक अंग मानता है। पर इसके साथ ही, वह वैर—भाव या युद्ध—भाव को नित्य मानने की कल्पना भी नहीं कर पाता। अंततः एक आंतरिक सौमनस्य स्थापित होकर शांति—लाभ होगा। सबका सह—जीवन, सह—अस्तित्व अपने सम्पूर्ण वैविध्य, समस्त बहुरूपता एवं रूप—भेद, गुण—लक्षण—क्रिया भेद के साथ अपने—अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकेगा, यह शायद भारतीय मानस का स्थायी भाव है। एक ऐसे संसार में जहाँ भारतीय शक्ति का निर्णायक प्रभाव हो अथवा कम से कम अपने बारे में भारत स्वावलम्बी एवं पर्याप्त समर्थ हो, पराजय की स्थिति न हो, यह स्थायी भाव एक उदात्त व्यवहार का आधार बनता है। किन्तु जब किसी ऐसी प्रबल शक्ति से सामना हो जाए जो वैर—भाव एवं युद्ध—भाव को शाश्वत मानवीय स्वभाव एवं कर्तव्य माने, अपने से अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीवन—रूपों को नष्ट करने की या दूसरों को अधमरा करके अधीन बनाये रखने की योजना पर सतत चले, तब स्थिति बदल जाती है। उस स्थिति में भी यदि पराजित, तेजहत भारतीय चित्त अपने समय और अपने सम्मुख उपस्थित संसार के इस स्थायी वैर—भाव को समझ पाने को तैयार न हो, तब उसका स्थायी शांति—भाव तेजहीन होकर एक तरह से स्वयं को टगने का विचार—जाल रचता है। शायद भारतीय चित्त 'कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय' जैसे अध्यात्म—सूत्र की भ्रामक व्याख्या द्वारा इस दशा को उचित ठहराने का प्रयास

करने लगता है। ऐसे में अद्वैत बोध का स्थान एक भ्रांत अद्वैतवादी तर्क—जाल ले लेता है, अद्वैत दर्शन का सारतत्त्व विवेक—सिद्धि तब उपेक्षित कर दी जाती है। वस्तुतः भेद की सम्यक् पहचान के सामर्थ्य का ही नाम विवेक है। सत् और असत् में स्व और पर में, स्वधर्म और विधममें, धर्म और अधर्म में भेद करने का सामर्थ्य ही विवेक है। परमार्थतः अद्वैत जो सत्ता है, उसका ज्ञान इस भेद—बोध। सम्पन्न विवेक के बिना असम्भव है। विवेक के अभाव में अद्वैत ज्ञान नहीं होता, किन्तु अद्वैतवाद का शब्दजाल, जिसे आदि शंकराचार्य ने चित्त को भटका डालने वाला महावन कहा है, प्रबल हो उठता है। अद्वैत—बोध सात्विक तेज है, अद्वैतवाद तामसिक प्रमाद। पराजित समाज में जब अपनी विद्या—संस्थाएं नहीं रह जातीं, जब बोध की साधना का पथ विलुप्त हो जाता है और पंथ नहीं सूझता, चित्त—भूमि जब बाहरी खरपतवारों से संकुल हो उठती है, तब अद्वैतवादी प्रमाद अपने समय के संसार के सत्य को जानने में बाधक बनता है। यह स्वाभाविक ही है। तब न तो परायी विद्या—संस्थाओं का मर्म आत्मसात् करने योग्य बौद्धिक स्फूर्ति बचती है, न ही अपनी विद्या—परम्पराओं की पुनर्रचना का बल और साहस। पराजित भारतीय चित्त शायद इसी हीनता से ग्रस्त है। हीनता की दशा में प्रमाद और सृजन—विमुखता से उपजी अद्वैतवादी भ्रांति अपनी परम्परा का ही प्रसार दीखने लगती है। शायद प्रत्येक संस्कृति की विकृति का भी अपना ही विशिष्ट स्वरूप होता है। प्रमादपूर्ण अद्वैतवाद से भरे मानस में संसार को ठीक से जानने के प्रति अनिच्छा का उभार हो जाना विशिष्ट भारतीय विकृति है। अन्य संस्कृतियों की विकृतियों भिन्न प्रकार की होती हैं। हमारी विकृति इसी आत्महीनता से भरे प्रमाद के रूप में है।

पराजित भारतीय चित्त की बात उठने पर, उसके स्वरूप को तथा पराजय से उभरने की उसकी सतत चेष्टाओं के इतिहास को स्मरण करना आवश्यक है। इसके लिए मुझे यह उचित लगता है कि कुछ प्रतिनिधि घटनाओं तथा बिन्दुओं का सांकेतिक स्मरण किया जाए। इस्लाम के अनुयायियों से हजार वर्ष लम्बे समय तक सम्बन्ध होते हुए भी इस्लाम के स्वरूप को भी बौद्धिक स्तर पर समझने का कोई प्रयास भारत में पिछले दो सौ—तीन सौ वर्षों में भी नहीं हुआ दिखता। यह सही है कि इस्लाम अनुयायियों के आक्रमण से अधिकांश भारत पराजित नहीं हुआ, संघर्षरत ही रहा और अपने ढंग से इस्लाम को आत्मसात् करने की भी चेष्टा में लगा रहा। भारतीय समाज के पास ११ वीं शती से १७ वीं शती ईस्वी तक लगातार संग्राम और बलिदान के उपरान्त भी उल्लेखनीय शक्ति बची रह गई। संग्राम के क्रम में भारतीय समाज को बीच—बीच

